तत्त्व-चिन्तन के सन्दर्भ में अनुभूतिपरक सत्य का एक अद्भुत उपक्रम

☐ **आचार्य डॉ. सी. एल. शास्त्री** एम. ए. (त्रय),
पी-एच. डी. काव्यतीर्थ, विद्यामहोदधि

"एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" यह वैदिक वाक्य बड़ा सारगर्भित है। सत्य एक है, सर्वथा एक है, उसमें द्वैत नहीं होता। हाँ, इतना अवश्य है, सामान्य बुद्धियुक्त मानव-समुदाय को अवगत कराने हेतु शास्त्रकार, ज्ञानीजन उसे अनेकानेक अपेक्षाओं से, दृष्टियों से निरूपित करते हैं। निरूपण वक्तृ-सापेक्ष और श्रोतृ-सापेक्ष होता है। वक्ता अपने अध्ययन, चिन्तन और शास्त्रज्ञान के अनुसार विवेचना करता है, श्रोता अपनी क्षमता के अनुसार विवेचित तथ्य का श्रवण करता है, उसे स्वायत्त करता है। सत्य की साक्षात् अनुभूति इससे परे है। वह व्यक्ति के अपने आभ्यन्तर पर्यालोचन, पर्यालोकन, मनन एवं निदिध्यासन से सधती है। इन सब के माध्यम से एक अन्तःस्फुरण की प्रक्रिया निष्पन्न होती है। सत्य और अन्वेष्टा के बीच में जो शास्त्रगत माध्यम रहता है, तत्त्वतः नैश्चयिक दृष्टि से यदि उसे व्यवधान कहा जाय तो अनुचित नहीं होगा, अपगत हो जाता है। वह सत्य के साक्षात्कार की दशा है। उसे अनुभूति कहा जाता है। जहाँ साधना अनुभूत्यात्मक स्थिति प्राप्त कर लेती है, वहाँ फिर सम्प्रदायगत, परम्परागत सभी भेद अपने आप में समाहित हो जाते हैं। वैसे साधक किसी भी नाम से अभिहित किये जाएं, किसी भी परम्परा से जुड़े हों, उनका याथार्थिक ऐक्य अक्षुण्ण रहता है।

मेरे उपर्युक्त विचारों को बहुत बल मिला, जब मैंने परम विदुषी, प्रबुद्ध ध्यान-योगिनी महासती श्री उमरावकुंवरजी म. "अर्चना" से यह सुना कि मारवाड़ के मेड़ता अंचल के आस-पास के क्षेत्र में विद्यमान रामस्नेही साधकों की परम्परा में उनकी वाणी में कहीं-कहीं ऐसे संकेत हैं, जहाँ आद्यतीर्थंकर भगवान् ऋषभ, चरमतीर्थंकर भगवान् महावीर, तीर्थंकर चौबीसी, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान तथा केवलज्ञान, तीर्थंकर-पद, वीतराग-विज्ञान आदि का बड़े प्रामाणिक और सुन्दर रूप में उल्लेख, आख्यान हुआ है। बड़ा आश्चर्य होता है, श्रमण-परम्परा की यह शब्दावली, यह तत्त्व रामस्नेही परम्परा में कैसे विमिश्रित हो गया। उन सन्तों ने स्वतन्त्र रूप से आर्हत परम्परा का, तन्मूलक शास्त्रों का अध्ययन करने का अवसर पाया हो, ऐसा कम संभव प्रतीत होता है। ऐसा होते हुए भी उनके शब्दों से जो तथ्य उदभासित हुए हैं, वे शाश्वत, व्यापक और यथार्थ हैं। वह व्यापकता इतनी विराट है कि वहाँ संकेत के लिए केवल नामात्मक भिन्नता का अस्तित्व रहता है, वस्तुवृत्त्या वहाँ मूलतः कोई भेद रह नहीं जाता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रामस्नेही संत परम्परा में संत श्री सुखराम जी एक महान् साधक हुए हैं। उनका जन्म मरुधरा के अन्तर्गत मेड़ता के समीपवर्ती "बिराई" नामक ग्राम में गुर्जर गौड़ ब्राह्मण परिवार में विक्रम संवत् १७८३, चैत्र शुक्ला नवमी गुरुवार को हुआ। संवत् १८७३ कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी को उन्होंने इस नश्वर देह का त्याग किया। वे महान् संस्कारी योगी थे। बाल्यावस्था में ही साधना में जुट गये। दैहिक, मानसिक, आध्यात्मिक तपश्चरण द्वारा उन्होंने अद्भुत सिद्धियाँ प्राप्त कीं, अनुभूतियाँ प्राप्त कीं। सिद्धिजनित वैशिष्ट्य-प्रदर्शन से वे सदा दूर रहे। उनकी अनुभूतियों के पद वाणी के रूप में विश्रुत हैं। रामस्नेही साधक सन्त-वाणी को सर्वोपरि स्थान देते हैं। उसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, साथ ही साथ सम्यक् परिरक्षणीय और गोपनीय मानते हैं। श्री सुखरामजी म. की वाणी सुरक्षित है। वह तेतीस हजार श्लोक-प्रमाण पदों में है ऐसा कहा जाता है। एक श्लोक में ३२ अक्षर माने जाते हैं। वाणी में अध्यात्म, साधना, जप, ध्यान, मोक्ष आदि से सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण विषयों का विवेचन किया गया है। जैसाकि ऊपर इंगित किया गया है, वहाँ अनेक स्थानों पर जैनपरम्परा के अनेक शब्दों का ठीक जैनपरंपरा-सम्मत आशय से प्रयोग हुआ है। जैन शब्द "जिन" से बना है। जिन शब्द का अर्थ राग-द्वेष-विजेता है। यों जैन शब्द का अर्थ वह तत्त्वज्ञान है, जो राग-द्वेष-विजयी, जिनके लिये जैनपरंपरा में वीतराग शब्द का प्रयोग हुआ है, परम पुरुषों द्वारा प्रतिपादित है, इसलिये उसे वीणराग-विज्ञान कहा है। वाणी का एक पद है—

वीतराग-विज्ञान होय, इनको शिष होय जाय,
जे सतगुरु संसार में जन्म धरे जग मांय।
जन्म धरे जग मांय दोष ताहूं नहीं कोई,
जो पद केवल ब्रह्म तांय कूं दुर्लभ जोई॥
सुखरामदास ए गुरु किया, अब गुरु नहीं जग मांय।
वीतराग विज्ञान होय, इनको सीख वे आय॥

यहाँ सन्त का कथन है कि शिष्य ऐसे पुरुष का होना चाहिए, जो वीतराग-विज्ञान का धारक हो, जिसका जीवन दोषवर्जित हो, जो सतत ब्रह्मज्ञान में लीन रहे। सेवक सुखराम ऐसे ही गुरु में आस्थावान् हैं जो वीतराग-विज्ञान युक्त हो, अन्य में नहीं।

सन्त सुखराम ने बहुत थोड़े से शब्दों द्वारा इस पद में बड़े मर्म की बात कही है। बात ऐसी तथ्यपरक है, जहाँ साम्प्रदायिक संकीर्णता का लेशमात्र भी नहीं है। ऐसा ही एक प्रेरक प्रसंग जैन जगत् के सुप्रसिद्ध आचार्य कलिकाल-सर्वज्ञ विरुद-विभूषित श्री हेमचन्द्रसूरि के साथ घटित हुआ।

अपने युग का परम प्रतापी नरेश, गुर्जरेश्वर सिद्धराज जयसिंह आचार्य हेमचन्द्र के प्रति बहुत श्रद्धा एवं आदर रखता था। एक बार आचार्य हेमचन्द्र और सिद्धराज का सोमनाथ में एक साथ होने का संयोग बना। आचार्य हेमचन्द्र सिद्धराज के अनुरोध पर सोमनाथ मंदिर में गये। सिद्धराज ने उनसे सादर निवेदन किया—आचार्यवर! भगवान् शिव को प्रणाम करें। आचार्य हेमचन्द्र ने तत्काल एक स्तवनात्मक श्लोक की रचना की, जो निम्नांकित है—

"भवबीजांकुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमोऽस्तु सर्वभावेन॥"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भव—जन्म-मरण—आवागमन के बीज को उत्पन्न करने वाले—जिनसे जन्म-मरण का चक्र प्रादुर्भूत होता है, वे राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि जिनके क्षीण हो गए हैं, अर्थात् जो राग-द्वेष आदि से अतीत हैं, भवचक्र को लांघ चुके हैं, वे ब्रह्मा, विष्णु, शिव या जिन जिस किसी नाम से अभिहित हों, उन्हें मेरा नमस्कार है।

निश्चय ही शाश्वत सत्य पर आधृत भारतीय चिन्तनधारा का यह एक अद्भुत, अनुपम पद है। सत्य के वागात्मक परिवेशों में वैविध्य या अनैक्य संभावित है, किन्तु वह विसंगत नहीं होता। विसंगति पार्थक्य है। संगति या समन्विति भिन्नता के बावजूद अपार्थक्य है। विभिन्न आम्नायों द्वारा स्वीकृत, प्रतिपादित शाश्वत सत्यमूलक सिद्धान्त विवक्षा-भेद से शब्दात्मक अभिधाओं की असमानता होते हुए भी यथार्थ की कोटि से बाहर नहीं जाते।

जैन-परम्परा में दर्शन के क्षेत्र में ज्ञान, कर्म आदि का बड़ा गहन विवेचन हुआ है। वहाँ ज्ञान के पाँच भेद माने गये हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः पर्यायज्ञान तथा केवलज्ञान। धार्मिक साहित्य में इनका बड़ा विशद विवेचन हुआ है। मतिज्ञान ज्ञान की प्रारंभावस्था है तथा केवलज्ञान चरमावस्था। आत्मा अनन्त ज्ञानमय है। ज्ञान पर जो कार्मिक आवरण हैं, ज्ञान को ढकने वाली पर्तें हैं, वे ज्यों-ज्यों हटती जाती हैं, आत्मा का ज्ञानमय स्वरूप उत्तरोत्तर उद्घाटित, उद्भासित होता जाता है। जब ज्ञान को ढकने वाले समस्त कर्मावरण सर्वथा ध्वस्त, विनष्ट या क्षीण हो जाते हैं, तब ज्ञान की समग्रता अभिव्यक्त हो जाती है। ज्ञातृरूप आत्मा का तब ज्ञेय से सीधा सम्पर्क निष्पन्न हो जाता है। इन्द्रियां, मन आदि माध्यम वहाँ सर्वथा निरपेक्ष हो जाते हैं। ऐसी स्थिति तब बनती है, जब राग, द्वेष आदि समस्त आत्म-परिपंथी बाधक तत्त्व उच्छिन्न हो जाते हैं। केवलज्ञान वह है, जहाँ वर्तमान, भूत व भविष्य के भावों को आत्मा जानती है। यह आत्मा की परम उच्चावस्था है। संतवर सुखराम अपने एक पद में ज्ञान की चर्चा के सन्दर्भ में कहते हैं—

मतज्ञान माने नहीं, श्रुतज्ञान में न्याव,
अवधज्ञान में सूझसी, लाख कोश को डांव।
लाख कोश को डांव, मन परचे सोहि करह,
आ केवल ही पर्ख, अमर फल खाय न मरह॥
सुखराम वर्ष वदित हुआ, नरके उपजे भाव।
मतज्ञान माने नहीं, श्रुतज्ञान में न्याव॥

ब्रह्म ध्यान बिन ध्यान सब, माया मिलण उपाय,
ब्रह्म प्रेम बिन प्रेम सो, सब कर्मों की खाय।
सब कर्मों की खाय, नाम केवल बिन सारा,
सब इन्द्रयां का भोग, करण कारण विचारा॥
कोई शब्द के प्रेम बिन, परम मोख नहीं जाय।
ब्रह्म ध्यान बिन ध्यान सब, माया मिलण उपाय॥

जीवन का परम प्राप्य वीतरागभाव, कैवल्य या केवलज्ञान है। मतिज्ञान मननात्मक होता है। इन्द्रिय, मन आदि बाह्य उपकरणों द्वारा जो हम जानते हैं, वह मतिज्ञान है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रुतज्ञान, आगम, शास्त्र आदि के अध्ययन, वाचन, मनन, श्रवण आदि से प्राप्त होने वाला ज्ञान है। श्रुतज्ञान आप्तवचनात्मक होता है, उच्चतम स्थान पर पहुँचे हुए महापुरुषों की देशना से अनुगत होता है। अतएव उसमें किंचित्मात्र भी शंकास्पदता नहीं होती। श्रुतज्ञान के इस स्वरूप को ध्यान में रखते हुए सन्त ने "श्रुतज्ञान में न्याव" इन शब्दों द्वारा श्रुतज्ञान की न्याय्यता तथा उपादेयता पर प्रकाश डाला है। अवधिज्ञान, जो व्यवहित पदार्थों को स्थानिक व्यवधान के बावजूद जान लेने का गुण लिये होता है, की विशेषताओं की संत यहाँ चर्चा करते हैं। अन्ततः वे केवलज्ञान पर ही आ टिकते हैं। केवलज्ञानी जैसी आध्यात्मिक उच्च भूमिका को स्वायत्त कर लेता है, सन्त सुखराम की दृष्टि में वह बहुत बड़ी उपलब्धि है। वे उसे अमरत्व के रूप में उपपादित करते हैं। "अमर फल खाय न मरह" —इन शब्दों में साधकवर्य ने बहुत कुछ कह डाला है, जो मननीय है।

ऊपर उद्धृत दो पदों में दूसरे पद के अन्तर्गत सन्त सुखराम ब्रह्मध्यान की चर्चा करते हैं। ब्रह्म पर चित्त को एकाग्र किए बिना आत्मानुभूति नहीं होती। अतएव साधक को सदैव ध्यान का अभ्यास करते रहना चाहिए। ब्रह्म से मिलने का, ब्रह्म-सारूप्य साधने का एकमात्र ध्यान ही अमोघ उपाय है। वह शुद्ध भागवत्-प्रेम से सधता है। इसके अतिरिक्त जो कुछ किया जाता है, कार्मकाण्डिक धर्माचरण ही सही, वह यथार्थ की भाषा में माया के अन्तर्गत ही समाविष्ट होता है। इस पद में भी संत केवलज्ञान की चर्चा करते हैं और केवलज्ञान के बिना सारे कर्म-समवाय को इन्द्रिय-भोग से अधिक नहीं मानते।

सगुण- निर्गुण की चर्चा में उनके पदों में एक पद है—

बांदा ! केवल भेद नियारोजी,
सत्स्वरूप आनंद पद कहिये, सो उपदेश हमारो जी। टेर।

ब्रह्मा विष्णु महेश नां पायो, नां अवतारां सोई।
सुर तेतीस शक्र इन्द्रादिक, नेक न जाण्यो कोई ॥ १ ॥

ग्यानी ध्यानी संत साध रे, नां जोगेसर पावे।
दुनियां सकल कोण गिनती में, सेस ब्रह्म लग ध्यावे ॥ २ ॥

बंध मुक्त दोनों के आगे, मुक्त रूप सुण होई।
यहाँ लग सकल खबर ले आया, आगे न जाण्यो कोई ॥ ३ ॥

कहे सुखराम अर्थ जब लाधे, जब ऐसी मत आवे।
जब वैरागी होय नर जग में पिता किसब कुण चावे ॥ ४ ॥

साधक को सम्बोधित कर संत कहते हैं—कैवल्य या केवलज्ञान का रहस्य कुछ अलग ही है। उसके प्राप्त होने पर अपने शुद्ध स्वरूप का भान होता है और परम आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति होती है। हमारा यही चरम उद्देश्य है, जिसे प्राप्त करने हेतु साधक सदैव सतत यत्नशील रहे। यह वह गूढ़ रहस्य है, जिसे ब्रह्मा, विष्णु, शिव तक न जान सके और न दूसरे अवतार ही जिसे स्वायत्त कर सके। उसी प्रकार न तेतीस करोड़ देवी-देवता और न उनके अधिनायक इन्द्र आदि इसे जरा भी जान पाये। यह वह निगूढ़तम तत्त्व है, जो ज्ञानियों, ध्यानियों, संतों, साधुओं, योगेश्वरों, उद्भट योगियों को भी उपलब्ध नहीं हो सका। इस

जगत् की तो गिनती ही क्या है ? शेषनाग से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त सभी इसे ध्याते हैं, प्राप्त करने की कामना करते हैं। बन्धावस्था तथा बाह्य दृष्टि से मुक्तता इन दोनों के आगे मोक्ष स्वरूप की अवस्थिति है। यहाँ तक की खबर तो सब ले आये, यहाँ तक की गति, प्रगति, स्थिति आदि तक को तो सबने समझा किन्तु इससे आगे क्या है ? इसे कोई नहीं जान पाया। सुखराम कहते हैं कि यथार्थता—वास्तविकता, असलियत तब प्राप्त हो, जब जैसा यहाँ बताया गया है, उस पद का अवलम्बन किया जाय। वैराग्य और अभ्यास द्वारा सत्-स्वरूप को अधिगत किया जाय। वैसी स्थिति में ब्रह्मानन्द या शुद्ध चैतन्यानुभूति प्राप्त होती है, जिसका प्राप्त होना जीवन का साफल्य है।

एक पद में वे पुनः केवलज्ञान की चर्चा करते हैं, लिखते हैं—

बांदा ! केवल को घर न्यारो।
करामात क्रिया सब झूठी सांचो नांव विचारो।
करामात सूं सब कोई रीझे, ग्यानी दरसण सारा।
ओ सुण अर्थ न सूझे किसकूं, माया चरित विचारा ॥१॥
मायी जहाँ राम सुण नांहि, राम जहाँ नहीं माया।
ओ सुण भेद न जाणे कोई, परचा कहाँ सु आया ॥२॥
देखो भूल ग्यान दरसण में परचा सकल सरावे।
जिण जनकुं माया बिध मारयो, ताकी शोभा गावे ॥३॥
ब्रह्मलोक जाता कूं बीचे, माया है बट फाड़ी।
सतगुरुशरण तत जहाँ भ्यासे, जिण जन पटक पछाड़ी ॥४॥

इस पद्य में संत ने कैवल्य की महिमा का बड़े मार्मिक तथा सशक्त शब्दों में विवेचन किया है। साधनोत्सुक पुरुष को सम्बोधित कर वे कहते हैं—मानव ! कैवल्य का स्थान, कैवल्यमयी स्थिति वास्तव में सबसे न्यारी, अनूठी है। यह परम उत्कृष्टतम सिद्धि है। लौकिक लक्ष्य से आचीर्ण साधनाक्रम, ध्यान, योगाभ्यास, मन्त्राराधन से प्राप्त चामत्कारिक सिद्धियाँ वास्तव में मिथ्या हैं। चमत्कार प्रस्तुत करना साधक का लक्ष्य नहीं होता। चमत्कार-प्रदर्शन द्वारा साधना विकृत, दूषित और क्षीण हो जाती है। अतएव सन्त बड़े स्पष्ट शब्दों में "करामात क्रिया सब झूठी" यों कहते हुए उसका नैरर्थक्य प्रकट करते हैं। वे जानते हैं कि जगत् चमत्कारों से प्रभावित होता है। वह चमत्कारों को नमस्कार करता है, क्योंकि वह एषणाओं तथा कामनाओं से आपूर्ण होता है, अतएव वह मन में आशा संजोये रहता है कि चमत्कारी पुरुष उसे लाभान्वित करेंगे। यह चमत्कार की दुनिया बड़ी विचित्र है। जन-साधारण तो इससे प्रभावित होते ही हैं, जिन्हें हम विद्वान् कहते हैं, वे भी चमत्कारों के प्रभाव से अछूते नहीं रहते, यह बड़े दुःख का विषय है। ऐसे व्यक्ति अक्षरज्ञ कहे जा सकते हैं, वस्तुतः विद्वान् नहीं। विद्या प्राप्त हो जाए और ऐसी एषणापूर्ण, लुब्धतापूर्ण हीनवृत्ति बनी रहे, यह कदापि संगत नहीं होता। संत के अनुसार यह माया है, प्रवंचना है, अविद्या है, अज्ञान है। जहाँ माया का अस्तित्व होता है, वहाँ प्रभु नहीं मिलते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी पद में संत ज्ञान तथा दर्शन की चर्चा करते हैं। दर्शन शब्द जैन परम्परा में बड़ा महत्त्वपूर्ण अर्थ लिए हुए है। सामान्यतः दर्शन का अर्थ "देखना" या "तात्त्विकज्ञान" है। जैन वाङ्मय में यह शब्द श्रद्धान के अर्थ में प्रयुक्त है। श्रद्धान का अर्थ आस्था या विश्वास है। जीवन में सबसे पहले श्रद्धान का शुद्ध होना अति आवश्यक है। श्रद्धान-शुद्धि के बिना व्यक्ति सत्य को असत्य और असत्य को सत्य मान लेता है। यदि श्रद्धान शुद्ध नहीं है, सम्यक् नहीं है तो ज्ञान भी शुद्ध या सम्यक् नहीं होगा। जैनदर्शन में तो सम्यक् श्रद्धाहीन पुरुष के ज्ञान को अज्ञान की संज्ञा दी गई है। वहाँ अज्ञान का प्रयोग ज्ञान के अभाव में नहीं है, अपितु कुज्ञान या कुत्सित ज्ञान के अर्थ में है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र—इन तीनों को जैन परम्परा में "रत्नत्रय" कहा जाता है। सन्त ने यहाँ ज्ञान के साथ-साथ जिस दर्शन शब्द को जोड़ा है, वह उनकी अति गहन आध्यात्मिक अनुभूति या उपलब्धि का विषय है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से जागतिक पदार्थों का जो परिचय प्राप्त होता है, वह निश्चय ही यथार्थ होने के कारण शोभनीय और स्तवनीय होता है। जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र द्वारा माया को, जो ब्रह्मलोक की ओर जाते साधक को मार्ग में लूट लेने वाले बटमार "दस्यु" की तरह है, पराभूत कर डालते हैं, वे वस्तुतः अपनी जीवन-यात्रा को सफल कर डालते हैं। इस माया को पछाड़ने की क्षमता तब आती है, साधक जब सद्गुरु की शरण अपनाता है, जिन—राग-द्वेष विजेता की भूमिका अधिगत कर लेता है।

आश्चर्य है, सन्त सुखराम के प्रतिपादन में आर्हत परम्परा के साथ कितना सुसंगत समन्वय है। जिन शब्द जैन परम्परा के विशिष्टतम शब्दों में है।

ऊपर जैनदर्शन सम्मत ज्ञान के भेदों पर चर्चा हुई है। तीर्थंकर मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान तथा केवलज्ञान इन पाँचों के धारक होते हैं। वैसे केवलज्ञान में, जो अपरिसीम है, सभी ज्ञान-भेदों का समाहार हो जाता है। वाणी में आत्म-परिशोधन के सन्दर्भ में एक पद है—

जामो है भारी भारी, कोई धोवे संत हजारी।
जो धोया जो अमर हुआ रे, आवागमन निवारी॥
सुर नर मुनि जन शंकर वंछे, मिलनो दुर्लभ विचारी॥१॥

जामा मांही अनंत गुण होई, जो कोई लखे विचारी।
गेली जगत धो नहीं जाणे, उलटो कियो खुवारी॥२॥
जामो है भारी....

कर सुं धुपे ने लातां खुंदीज्यां, कीमत कठन करारी।
ज्यां धोया ज्यां अघरज धोया, प्रेम नाम जल डारी॥
जामो है भारी.... ॥३॥

जल सूं धुपे न साबुन दियां पायण शिला पिछारी।
ऋषियां मुनियां सिद्धां पीरां धोयो नहीं लिगारी॥
जामो है भारी.... ॥४॥
धोबी करोड़ निनाणु खसिया, बाल जाल गया फाड़ी।
अनन्त कोट संतां मिल धोयो, कस रज भागे सारी॥५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पांच ज्ञान तीर्थंकरां पाया, कर गया फगल विचारी ।
जन सुखदेवज धोवण बैठा, करडी मत उर धारी ॥६॥

सन्त ने इस में आत्मशोधन की प्रक्रिया का एक जामे के प्रक्षालन के प्रतीक द्वारा निरूपण किया है। यह आध्यात्मिक प्रक्षालन की प्रक्रिया है, जो सद्ज्ञान द्वारा, सम्यग्ज्ञान द्वारा, जिससे सम्यक् विधिक्रम प्रस्फुटित होता है, निष्पन्न होती है। निष्पन्नत्व के शीर्षस्थ रूप में अवस्थित तीर्थंकरों का, जिन्होंने जगत् को धर्म का सन्देश दिया, इस पद के अन्त में दो पंक्तियों में उल्लेख हुआ है, जो उनके परम शुद्धात्मस्वभाव का ख्यापन करता है। तीर्थंकरों ने पांचों ज्ञानों को स्वायत्त कर लिया, यह उनका अतुल आत्म-पराक्रम था, जिससे आत्म-प्रक्षालन रूप करणीय में उन्हें सबल संबल प्राप्त हुआ।

संत सुखराम, जो रामस्नेही परम्परा के उच्च कोटि के महात्मा थे, वास्तव में साम्प्रदायिक संकीर्णता से सर्वथा अतीत थे। उनके लिए तीर्थंकर, अवतार पुरुष, जो भी उच्च आत्माएँ इस भूमण्डल पर आती रही हैं, वरेण्य हैं, आदरणीय हैं। तीर्थंकरत्व के आदर्शों के प्रति संत का बड़ा रुझान रहा है। वे एक स्थान पर लिखते हैं—

अटक रह्यो रे साधो, अटक रह्यो, मुझे कोई मेर लगावे रे ।
जिण स्थान तीर्थंकर पहुंता, वो ई आसण मोई भावे रे ॥

बड़े प्रेरक शब्द हैं ये। संत ने इनमें मानो अपना हृदय खोलकर रख दिया है। वे कहते हैं—मैं अटक रहा हूँ, मंजिल की ओर बढ़ते मेरे चरण कुछ ठिठक रहे हैं, मेरी प्रगति कुछ व्याहत-सी हो रही है, मुझे कोई यथास्थान पहुंचाए—मेरे वहां पहुंचने में सहयोगी बने। मुझे वह स्थान पाने की अभीप्सा है, जो तीर्थंकरों ने प्राप्त किया अर्थात् मैं शुद्ध-बुद्ध, मुक्त होना चाहता हूँ।

सन्त सुखराम न केवल तात्त्विक विषयों में ही नहीं वरन् परंपरा-प्रसूत ऐतिहासिक प्रसंगों में भी सहज भाव से कुछ ऐसा कह जाते हैं, जो अनादि-अनन्त जैन परंपरा से अनुस्यूत प्रतीत होता है। वे आद्यतीर्थंकर ऋषभदेव, चरम तीर्थंकर महावीर की चर्चा करते हैं, चौबीसी-चतुर्विंशतिक तीर्थंकर-परम्परा का वर्णन करते हैं, सिद्धि, मुक्ति आदि का विवेचन करते हैं। जहां भी तीर्थंकरों का उल्लेख करते हैं, उनके प्रति उनके हृदय में श्रद्धा का अगाध सागर लहराता है। उनके कतिपय पद उद्धृत किये जा रहे हैं, जो इन तथ्यों पर प्रकाश डालते हैं—

नव क्रोड जन पहुंतिया, एक चौबीसी लार ।
आगे अनंता पहुंतिया, अंत पहुंतण हार ॥
अंत ही पहुंतण हार, भक्त को पराक्रम भारी ।
जो सिवरे निज पांव, मोख के वे अधिकारी ॥
सुखराम परम पद नाम जो, भणज्यो बारंबार ।
नव क्रोडा जन पहुंतिया, एक चौबीसी लार ॥
आद भजो जिन रिखबदेव, अंत भजो महावीर ।
आठ पोर सिंवरण किया, धर चित्त ध्यान सधीर ॥
धर चित्त ध्यान सधीर, इकान्तर आसन किया ।
छाड़ दिया सब भरम, जगत सुं चारज लिया ॥

धम्मो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केवल भज केवल हुआ, चुगे हंस जहां हीर।
आद भजो जिन रिखबदेव, अंत भजो महावीर ॥

"केवल भज केवल हुआ" द्वारा संत ने इस पद में एक बहुत गहरी बात कही है। ध्याता जिस आलम्बन को लेकर ध्यान करता है, जिसका ध्यान करता है, जिस ध्येय में अभिरत होता है, तन्मयतापूर्ण ध्यानावस्थ होता है, अन्ततः वह वैसा ही हो जाता है। यह वह दशा है, जहां ध्याता और ध्येय का भेद अपगत हो जाता है, मिट जाता है। संत कहते हैं—केवली को भजने वाले केवली हो गये—कैवल्य प्राप्त कर गये, कैवल्य प्राप्त करते हैं। सन्त की कैवल्य-भाव में, तन्निरूपक शब्दावली में अगाध श्रद्धा है। जब भी वे उस सन्दर्भ में कुछ कहने को उद्यत होते हैं, भाव-विभोर हो उठते हैं।

कलिजुग बारो मोषको, भरतखंड के मांय,
भजन करे सो जीव रे वार उपजे आय।
वार उपजे आय ग्यान केवल घट आवे,
और दर्शन कर-कर मोष, क्रोड़ा लख जावे ॥
सुखराम चौबीसी प्रकटे सतजुग त्रेता मांय,
कलजुग बारो मोख को भरत खंड के मांय ॥

* * *

ऋषभदेव तांमे तत छाण्यो,
छुछम भेद में तत पिछाणवा
परगट कियो जग में,
आणी विध, चोबीस तीर्थंकरा जाणी।

* * *

यो सब देव करे पछतावा,
यो नरतन कब पावा।
जन्म मरण काल भय मेट र,
परम धाम कब जावां।
अहो प्रभु ! मानव-तन दीजे,
भरतखंड के मांही।
केवल भक्ति करां संत सेवा,
और करां कछु नांही ॥

* * *

हण भुरकी पैगंबर तार्‌या,
और मुनि जन ज्ञानी।
ऋषभदेव तीर्थंकर तार्‌या,
भरत भरत की रानी।
ऋषभदेव भुरकी दे तार्‌या,
पांच क्रोड नर-नारी ॥

* * *

भगवत बीसी नित नवी विद खेतरे मांय,
एक भव तारी संत जन जनम धरे वहाँ आय।
जनम धरे वहाँ आय मोख वांसु हंस जावे,
हर बिन दर्शण भगवान ग्यान घट ना ही आवे॥
सुखरामदास वा समय हो हंस मोख नित जाय,
भगवत बीसी नित नवी विद खेतरे मांय॥

इस पद्य में विदेह क्षेत्र में विहरण या बीस तीर्थंकरों की ओर संत का इंगित है। जैन परम्परा के मौलिक स्वरूप के प्राकट्य का यह एक अद्‌भुत उदाहरण है, जो एक महान् संत की अनुभूति से निःसृत हुआ, जिससे इस परम्परा का सातत्य, शाश्वत रूप सम्यक् परिपुष्ट होता है।

जैनदर्शन कर्मवादी दर्शन है। जीव स्वकृत कर्मों के अनुसार विविध रूपों में उत्पन्न होता है। वह रूप-वैविध्य गतियों में विभक्त है—१. नरकगति, २. तिर्यंचगति, ३. मनुष्य-गति तथा ४. देवगति।

संसारी जीव जब तक कर्मबद्ध है, इन्हीं चार गतियों में चक्कर काटता रहता है। कर्मानुरूप सुख-दुःख भोगता है।

सन्तप्रवर सुखराम ने इन चार गतियों का चार खानों के रूप में वर्णन किया है, जो इस प्रकार है—

अब चार खाण में ऊपजे, जीव जहाँ तां जाय,
सुख दुःख जहाँ तहाँ एक ही, कम नहीं जाका मांय।
कम नहीं जाका मांय नरक सरगां लग जावे,
धरी देह का डंड, विसन आगे लग पावे।
तीन लोक सुखराम कह यूं जग वणियो आय,
अब चार खाण में ऊपजे, जीव जहाँ तां जाय॥

सन्त बड़े उन्मुक्त शब्दों में यहाँ उद्‌घोषित करते हैं, देह-दण्ड—कर्मफल सब किसी को, यहाँ तक कि अति विशिष्ट देव विष्णु तक को भोगना पड़ता है।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है, रामस्नेही परम्परा के इन महान् सन्त की वाणी में स्थान-स्थान पर आर्हत परम्परा का सन्निवेश सन्त के विराट्, परम सत्यान्वेषी, व्यापक, सूक्ष्म, गहन चिन्तन, विचारवत्ता तथा अनुभूतिगम्य उपलब्धिवत्ता का संसूचक है, जहाँ शाश्वत सत्य का वैविध्य सहजतया ऐक्य में अनुस्यूत हो जाता है। धन्य इन महान् सन्त की गरिमामयी साधना तथा विश्वजनीन चिन्तनधारा। □□

धम्मो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org